जैन आगमों में निहित गणितीय अध्ययन के विषय

अनुपम जैन* एवं सुरेशचन्द्र अग्रवाल**

जैन परम्परा में तीर्थंकरों के उपदेशों एवं उन उपदेशों की उनके प्रधान शिष्यों (गणधरों) द्वारा की गई व्याख्या को समाहित करने वाले समस्त शास्त्र आगम की संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं। वर्तमान में उपलब्ध समस्त आगमों की रचना ५वीं शती ई० पू० से ५ वीं शती ई० के मध्य जैन परम्परा के वरिष्ठ आचार्यों द्वारा भगवान् महावीर के उपदेशों के आधार पर की गयी है। जैनधर्म की दोनों धाराएँ (दिगम्बर एवं श्वेताम्बर) आगमों की नामावली के सन्दर्भ में एकमत नहीं हैं। जहाँ दिगम्बर परम्परा षड्खंडागम, कषाय प्राभृति एवं आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य को आगम के रूप में मान्यता देती है, वहीं श्वेताम्बर परम्परा देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण (४५३-४५६ ई०) की अध्यक्षता में सम्पन्न वल्लभी वाचना में स्खलित एवं विलुप्त होते हुए परम्परागत ज्ञान को आधार बनाकर लिखे गये अंग, उपांग साहित्य को आगम की मान्यता देती है। ये अंग, उपांग अर्द्धमागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं। यहाँ पर हम इन्हीं आगमों को आगम के रूप में चर्चा करेंगे।

जैन आगम ग्रन्थों में स्थानांग (ठाणं) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अंग साहित्य में यह तृतीय स्थान पर आता है। मूल रूप से लगभग ३०० ई० पू० में सृजित एवं ५ वीं शती ई० में अपने वर्त्तमान रूप में संकलित इस अंग के दसवें अध्याय में निहित १००वीं गाथा गणितज्ञों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस गाथा से हमें गणित के अन्तर्गत अध्ययन के विषयों की जानकारी मिलती है। परोक्ष रूप से यह माना जा सकता है कि ये विषय आगम में भी उपलब्ध होंगे, क्योंकि तीर्थंकर महावीर को संख्याज्ञान का विशेषज्ञ माना गया है[1] एवं आगम ग्रन्थ उनके परंपरागत ज्ञान के संकलन मात्र हैं। स्थानांगसूत्र में उपलब्ध यह गाथा स्थानांग के विविध मुद्रित संस्करणों[2] में निम्न प्रकार पाई जाती है।

दस विधे संखाणे पण्णत्ते तं जहा—

परिकम्मं ववहारो रज्जु रासी कलासवण्णे य।
जावंतावति वग्गो घणो य (त) तह वग्गवग्गो वि (कप्पो प० त-१) ॥

उपर्युक्त रूप के अतिरिक्त कई गणित इतिहासज्ञों ने इसे निम्न रूप में उद्धृत किया है।

परिकम्मं ववहारो रज्जु रासी कलासवन्ने (कलासवण्णे) या
जावंतावति वग्गो घनो ततह वग्ग वग्गो विकप्पो त ॥—(२)

---

* व्याख्याता (गणित) शासकीय महाविद्यालय, थ्यावरा (राजगढ़) म० प्र० ४६५६७४।

** रीडर, गणित विभाग, उच्चशिक्षा संस्थान, मेरठ, वि० वि० मेरठ (उ० प्र०)

१. गणितसारसंग्रह–मंगलाचरण १/१, पृ० १।

२. ठाणं पृ० ९२६ १०।१००।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) इस रूप में गाथा को दत्त[१], जैन[२] एवं उपाध्याय[३] ने उद्धृत किया है जबकि कापड़िया[४] ने इसे निम्न रूप में उद्धृत किया है।

परिकम्म (१) ववहारो, (२) रज्जु, (३) रासी, (४) कलासवन्ने, (५) य।
जावंतवति, (६) वग्गो, (७) घणो (८) त तह वग्गवग्गो (९) वि कप्पोत ॥ ३ ॥

ठाणं[५] में (१) की संस्कृत छाया निम्न प्रकार दी गई है।

परिकर्म व्यवहारः रज्जु राशिः कलासवर्ण च।
यावत् तावत् इति वर्गः घनश्च तथा वर्गवर्गोपि ॥ कल्पश्च ॥ ४ ॥

स्थानांग की इस गाथा की वर्तमान में उपलब्ध सर्वप्रथम व्याख्या अभयदेव सूरि (१०वीं शती ई०) द्वारा की गई। स्थानांग की टीका में उपर्युक्त गाथा में आये विषयों का अर्थ स्पष्ट करते हुये उन्होंने निर्धारित किया कि :—

१. परिकम्मं = संकलन आदि।
२. ववहारो = श्रेणी व्यवहार या पाटी गणित।
३. रज्जु = समतल ज्यामिति।
४. रासो = अन्नों की ढेरी।
५. कलासवण्णे = प्राकृतिक संख्याओं का गुणन या संकलन।
६. वग्गो = वर्ग।
७. धणो = धन।
८. वग्गवग्गो = चतुर्थघात।
९. कप्पो = ककचिका व्यवहार।

दत्त[६] (१९२९) ने लगभग ९०० वर्षों के उपरान्त उपर्युक्त व्याख्या को अपूर्ण एवं एकांगी घोषित करते हुए अपनी व्याख्या प्रस्तुत की। दत्त के समय में भी जैन गणित का ज्ञान अत्यन्त प्रारंभिक था एवं गणितीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण, वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थ उस समय तक अप्रकाशित एवं अज्ञात थे तथापि उनकी व्याख्या अभयदेवसूरि की व्याख्या की अपेक्षा तर्कसंगत प्रतीत होती है। उन्होंने उपर्युक्त दस शब्दों की व्याख्या निम्न प्रकार दी।

---

१. देखें सं०—३, पृ० ११९।
२. देखें सं०—८, पृ० ३७
इन्होंने कलासवण्णो के स्थान पर "कलासवन्ने" पाठ लिया है।
३. देखें सं—११ पृ० २६।
(आपने विकप्पो त को विकप्पोत रूप में लिखा है। इन दोनों पाठान्तरों से कोई अन्तर नहीं पड़ता। जबकि (१) एवं (२) के पाठों में·····'वि ॥ 'कप्पो य' तथा 'विकप्पो त' का अंतर द्रष्टव्य है।
४. देखें सं०—१०, पृ० १२।
५. ठाणं, पृ० ९२६।
६. देखें सं० ३, पृ० ११९-१२२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. अंक गणित के परिकर्म (Fundamental Operation)
२. अंक गणित के व्यवहार (Subject of Treatment)
३. रेखागणित (Geometry)
४. राशियों का आयतन आदि निकालना (Mensuration of Solid bodies)
५. भिन्न (Fraction)
६. सरल समीकरण (Simple Equation)
७. वर्ग समीकरण (Quadratic Equation)
८. घन समीकरण (Cubic Equation)
९. चतुर्थ घात समीकरण (Biquadratic Equation)
१०. विकल्प गणित या क्रमचय-संचय (Combination & Permutation)

दत्त द्वारा विषय की व्यापक रूप से समीक्षा किये जाने के उपरांत सर्वप्रथम कापड़िया (१९३७) ने इस विषय का स्पर्श किया किन्तु निर्णय हेतु अतिरिक्त सामग्री प्राचीन जैन गणितीय ग्रन्थों आदि के अभाव में आपने अपना निर्णय सुरक्षित रखा। आपने लिखा कि :—

It is extremely difficult to reconcile these two views especially when we have at present neither any acess to a commentary prior to the one mentioned above nor to any mathematical works of Jaina authorship which is earlier to Gaṇita Sāra Saṃgraha. So under these circumstances I shall be excused if I reserve this matter for further research.[1]

आयंगर (१९६७)[2] उपाध्याय (१९७१)[3] अग्रवाल (१९७२)[4] जैन (लक्ष्मीचंद) (१९८०)[5] ने अपनी कृतियों/लेखों में इस विषय का ऊहापोह किया है। स्थानांगसूत्र के विगत २-३ दशकों में प्रकाशित अनेक सटीक संस्करणों में अभयदेवसूरि की ही मान्यता का पोषण किया गया है। जैन विश्व भारती, लाडनूं से प्रकाशित संस्करण में ३ पृष्ठीय विस्तृत परिशिष्ट में इस विषय की विवेचना की गई है किन्तु वह भी परंपरानुरूप ही है। हम यहाँ क्रमिक रूप से परिकर्म, व्यवहार आदि शब्दों की अद्यावधि प्रकाशित व्याख्याओं की समीक्षा कर निष्कर्ष निकालने का प्रयास करेंगे।

परिकम्म (सं० परिकर्म)

परिक्रियते अस्मित इति परिकर्मः। अर्थात् जिसमें गणित की मूल क्रिया सम्पन्न की जाये उसे परिकर्म कहते हैं।[6] परिकर्म शब्द जैन वाङ्मय के लिये नया नहीं है। अंग साहित्य के अन्तर्गत दृष्टिवाद अंग (१२वां अंग) का एक भेद परिकर्म है। आ० कन्दकुन्द (द्वितीय-तृतीय शती ई०)

१. देखें सं० १०, पृ० १३।
२. देखें सं०–१३, पृ० २५-२७।
३. देखें सं०–११, पृ० २६।
४. देखें सं०–१, पृ० ३०-५७।
५. देखें सं०–८, पृ० ३७-४१, ४२।
६. देखें सं०–१, पृ० ३२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने षट्खण्डागम के प्रथम तीन अध्यायों पर १२००० श्लोक प्रमाण परिकर्म नामक टीका लिखी थी। वीरसेन (८२६ ई०) कृत धवला में 'परियम्म सुत्तं' नामक ग्रन्थ का गणित ग्रन्थ के रूप में अनेकशः उल्लेख हुआ है। महावीराचार्य (८५० ई०) कृत गणितसारसंग्रह का एक अध्याय भी परिकर्म व्यवहार है जिसमें अष्ट परिकर्मों की चर्चा है।[1] यद्यपि ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) ने २० परिकर्मों का उल्लेख किया है। तथापि भारतीय गणितज्ञों ने मौलिक परिकर्म ८ ही माने हैं जो कि ब्रह्मगुप्त के निम्नांकित २० परिकर्मों में से प्रथम ८ हैं।

१. संकलन (जोड़)
२. व्यकलन (घटाना)
३. गुणन
४. भाग
५. वर्ग
६. वर्गमूल
७. घन
८. घनमूल
९–१३. पाँच जातियाँ (भिन्न संबंधी)
१४. त्रैराशिक
१५. व्यस्त त्रैराशिक
१६. पंच राशिक
१७. सप्त राशिक
१८. नव राशिक
१९. एकादश राशिक
२०. भाण्डप्रतिभाण्ड

वस्तुतः मूलपरिकर्म तो संकलन एवं व्यकलन ही है। अन्य तो उनसे विकसित किये जा सकते हैं। मिस्र, यूनान एवं अरबवासियों ने द्विगुणीकरण एवं अर्द्धीकरण को भी मौलिक परिकर्म माना है; किन्तु भारतवासियों ने नहीं माना है,[2] क्योंकि दाशमिक स्थान मान पद्धति से भिज्ञ लोगों के लिए इन परिकर्मों का कोई महत्त्व नहीं है। अभिधान राजेन्द्र कोश में चूर्णि को उद्धृत करते हुए लिखा गया है कि परिकर्म गणित की वह मूलभूत क्रिया है जो कि विद्यार्थी को विज्ञान के शेष एवं वास्तविक भाग में प्रवेश के योग्य बनाती है। इनकी संख्या १६ है।[3] भारतीय गणितज्ञों के लिये ये परिकर्म इतने सरल एवं सहज थे कि उच्चस्तरीय ग्रन्थों में इनका कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। इसी तथ्य के आधार पर दत्त महोदय ने लिखा है कि इन साधारण परिकर्मों में से अधिकांश का उल्लेख सिद्धांत ग्रन्थों में नहीं मिलता।

अग्रवाल ने लिखा है कि—

"इससे यह प्रतीत होता है कि गणित की मूल प्रक्रियायें चार ही मानी गई है—संकलन, व्यकलन, गणन एवं भजन। इन चारों क्रियाओं के आधार पर ही परिकर्माष्टक का गणित विकसित हुआ है।[4]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है परिकम्म का अर्थ गणित को मूलभूत प्रक्रियायें ही हैं एवं परिकम्म शब्द का आशय अंकगणित के परिकर्म से ही है।

---

१. आपने अत्यंत सरल होने के कारण संकलन एवं व्यकलन की विधियों की चर्चा नहीं की है।
२. देखें सं०–४, पृ० ११८।
३. देखें सं०–३, पृ० २४।
४. देखें सं०–१, पृ० ३३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **ववहारो (सं० व्यवहार) :—**

इस शब्द की व्याख्या अभयदेवसूरि ने श्रेणी व्यवहार आदि पाटीगणित के रूप में[1] तथा दत्त महोदय ने अंकगणित के व्यवहार रूप में की है। ब्रह्मगुप्त ने व्यवहार के ८ प्रकार बताये हैं।

१. मिश्रक व्यवहार,	५. चिति व्यवहार,
२. श्रेणी व्यवहार,	६. ककचिका व्यवहार,
३. क्षेत्र व्यवहार,	७. राशि व्यवहार,
४. खात व्यवहार,	८. छाया व्यवहार

महावीराचार्य के गणितसारसंग्रह में भी सभी प्रकरण उपलब्ध हैं उससे इनकी विषयवस्तु का सुगमता से निर्धारण किया जा सकता है। श्रेणी व्यवहार गणितके क्षेत्र में जैन-मतावलम्बियों का लाघव श्लाघनीय है तिलोयपण्णत्ति एवं धवला के साथ ही त्रिलोकसार के अन्तःसाक्ष्य[2] के अनुसार प्राचीन काल में मात्र धाराओं[3] पर ही एक विस्तृत ग्रन्थ उपलब्ध था। फलतः विभिन्न व्यवहारों में श्रेणी व्यवहार के प्रमुख होने के कारण शब्द के स्पष्टीकरण में उसको प्रमुखता देते हुए लिखना स्वाभाविक प्रतीत होता है। पाटीगणित शब्द तो जैन गणित सहित सम्पूर्ण भारतीय गणित में प्रचलित है। श्रीधर (७५० ई०) कृत पाटीगणित, गणितसार, गणिततिलक; भास्कर (११५० ई०) कृत लीलावती नारायण (१३५६ ई०) कृत गणितकौमुदी; मुनीश्वर (१६५८ ई०) कृत पाटीसार इस विषय के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में बीस परिकर्म एवं आठ व्यवहारों का वर्णन है। अतः कहा जा सकता है कि गणितसारसंग्रह की सम्पूर्ण सामग्री परिकर्म एवं व्यवहार इन दोनों में ही समाहित है।

वर्तमान में व्यवहारगणित शब्द का प्रयोग पाटीगणित की उस प्रक्रिया के लिए होता है जिसमें गुणक संख्या के योगात्मक खण्ड करके गुण्य से गुणा किया जाये। जिस समय बड़ी संख्याओं की गुणनविधि का प्रचलन नहीं हुआ था उस समय गुणक संख्या को कई समतुल्य खण्डों में विभाजित कर पृथक्-पृथक् गुणा करके उस गुणनफल को जोड़ दिया जाता था, किन्तु जैनों की गुणन क्रिया में दक्षता एवं गणितीय ज्ञान की परिपक्वता को दृष्टिगत करते यह अनुमान करना निरर्थक ही है कि व्यवहार गणित गुणन के इस सन्दर्भ में आया हो सकता है। उपाध्याय, व्यवहार गणित का अर्थ Practical Arithmatics करते हैं। जब कि Srinivas Iengar ने लिखा है कि 'Vyavahar means application of arithmatics to concrete problems (Applied Mathematics)' संक्षेप में ववहारो का अर्थ पाटीगणित के व्यवहार करना उपयुक्त है।[4]

३. **रज्जु :—**इस पारिभाषिक शब्द का विषय-सूची में उपयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अभयदेवसूरि ने इसका अर्थ रस्सी द्वारा की जाने वाली गणनाओं से सम्बन्धित अर्थात् समतल ज्यामिति से किया था।[5] दत्त ने इसको किंचित् विस्तृत करते हुए इसकी परिधि में सम्पूर्ण

१. श्रेणीनों व्यवहार विगेरे पाटीगणित प्रसिद्ध अनेक प्रकारे व्यवहार गणितेछे।

२. त्रिलोकसार, गाथा–९१।

३. धारा का अर्थ Sequence है।

४. देखें सं०–१३, पृ० ३२

५. राजवड़े जे संख्यान ते रज्जु कहवाय छे-ते क्षेत्र गणित छे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्यामिति को समाहित कर लिया। अग्रवाल ने लिखा है कि—

"रज्जुगणित का अभिप्राय क्षेत्रगणित से है। क्षेत्रगणित मे पल्य सागर आदि का ज्ञान अपेक्षित है। आरम्भ में इस गणित को सीमा केवल क्षेत्र परिभाषाओं तक ही सीमित थी पर विकसित होते-होते यह समतल ज्यामिति के रूप में वृद्धिगत हो गई है।"[1]

आयंगर के अनुसार :—

Rajju is the ancient Hindu name for geometry which was called Sulva in the Vedic literature.

अर्थात् रज्जु रेखागणित की प्राचीन हिन्दू संज्ञा है जो कि वैदिक काल में शुल्व नाम से जानी जाती थी।

कात्यायन शुल्वसूत्र में ज्यामिति को रज्जु समास कहा गया है[2]।

प्रो० लक्ष्मीचन्द जैन ने रज्जु के संदर्भ में लिखा है[3] :—"इस प्रकार रज्जु के उपयोग का अभिप्राय जैन साहित्य में शुल्व ग्रन्थों से बिल्कुल भिन्न है। रज्जु का जैन साहित्य में मान राशिपरक सिद्धान्तों से निकाला गया है और उससे न केवल लोक के आयाम निरूपित किये गये हैं किन्तु यह माप भी दिया गया है कि उक्त रैखिक माप में कितने प्रदेशों की राशि समाई हुई है। उसका सम्बन्ध जगश्रेणी से जगप्रतर एवं धनलोक से भी है।"[4]

आपने संदर्भित गाथा के विषयों की व्याख्या करते हुए रज्जु का अर्थ विश्व माप की इकाई लिखा है।

वस्तुतः उस स्थिति में जबकि व्यवहार के ८ भेदों में से एक भेद क्षेत्र-व्यवहार भी है और उसमें ज्यामिति का विषय समाहित हो जाता है एवं खात, चिति, राशि एवं क्राकचिक, व्यवहार के अन्तर्गत मेन्शुरेशन (Mensuration.) का विषय भी आ जाता है। तब क्षेत्रगणित के लिये स्वतन्त्र अध्याय की इतनी आवश्यकता नहीं रह गई जितनी लोक के प्रमाण विस्तार आदि से सम्बद्ध जटिलताओं, असंख्यात विषयक राशियों के गणित से सम्बन्धित विषय की। इन विषयों का व्यापक एवं व्यवस्थित विवेचन जैन ग्रन्थों में मिलता है। जबकि यह अन्य किसी समकालीन ग्रन्थ में नहीं मिलता। विविध धार्मिक-अर्द्धधार्मिक जैन विषयों के स्पष्टीकरण में इनकी अपरिहार्य आवश्यकता करणानुयोग अथवा द्रव्यानुयोग के किसी भी ग्रन्थ में देखी जा सकती है। एतद्विषयक गणित की जैन जगत् में प्रतिष्ठा का आकलन इस बात से भी किया जा सकता है कि हेमराज ने संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त विषयक गणित पर १७वीं शताब्दी में गणितसार नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की। असंख्यात एवं अनन्त के जटिल विषयों को परिकर्म के अन्तर्गत मानना किंचित् भी उचित नहीं, क्योंकि परिकर्म में तो गणित (लौकिक गणित) की मूलभूत क्रियायें आती हैं।

---

१. देखें सं०—१, पृ० ३६।
२. देखें सं०—१३ पृ० २६।
३. रज्जु समास वक्ष्याम, कात्यायन शुल्वसूत्र १.१।
४. देखें सं०—८, पृ० ४५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रज्जु, पल्य आदि की गणना सामान्य परिकर्मों से असंभव है।
धनांगुल, जगश्रेणी एवं पल्य को अपने सामान्य अर्थ में प्रयुक्त करने पर—

$$\text{पल्योपम के अर्द्धच्छेद} \underline{\qquad} \text{असंख्यात}$$

जगश्रेणी = ७ राजू = धनांगुल

यदि पल्योपम P होतो log2p/असंख्यात

राजू = $\frac{1}{7}$ धनांगुल

स्पष्टतः राजू (रज्जु) एक असंख्यात राशि[1] हुई। असंख्यात संकेन्द्री वलयाकार वृत्तों की शृंखला में अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप का व्यास रज्जु बताया गया है। फलतः इस विधि से भी इसका मान असंख्यात ही मिलता है।

प्रो० घासीराम जैन ने आइंस्टीन के विवादास्पद संख्यात फैलने वाले लोक की त्रिज्या के आधार से प्राप्त घनफल की लोक के आयतन स तुलना करके रज्जु (राजू) का मान प्राप्त किया। यह मान—

१.४५×१०^{२१} मील एवं

१.६३×१०^{२१} मील है। एक अन्य रीति से यह मान

१.१५×१०^{२१} मील प्राप्त होता है[2]

किन्तु घासीराम जैन द्वारा उद्धृत मान अपूर्ण है, क्योंकि ये सभी कल्पनाओं एवं अभिधारणाओं पर आश्रित हैं। रज्जु को तो असंख्यात रूप में ही स्वीकार करना उपयुक्त है। यह स्वीकार करने में किंचित् भी संकोच नहीं होना चाहिये कि रज्जु शब्द शुल्व काल के तुरन्त बाद से भारतीय गणित में क्षेत्रगणित के सन्दर्भ में आया है। भले ही वह मापने वाली रस्सी रहा हो या मापन क्रिया। यह शब्द रेखागणित तथा त्रिभुज, चतुर्भुज की चारों भुजाओं के योग के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।[3] तथापि यह आवश्यक नहीं है कि यह इस गाथा या सिद्धान्त ग्रन्थों में भी इसी अर्थ में आया हो। इस विषय के विस्तार में न जाकर हम यहाँ इतना कहना ,उचित समझते हैं कि प्रस्तुत गाथा में रज्जु शीर्षक हमें उस विषय की ओर इंगित करता है जिसमें लोक के विस्तार, लोक संरचना, जघन्य परीत एवं जघन्य युक्त एवं जघन्य असंख्यात का गणित समाहित है। यदि हम यह कहें कि रज्जु का प्रमाण लोकोत्तर प्रमाण की ओर इंगित करता है तो अनुपयुक्त न होगा। शब्दों के अर्थ काल परिवर्तन, विषय परिवर्तन, सन्दर्भ परिवर्तन से कितने बदल जाते हैं। यह विषय भाषाविज्ञान के वेत्ताओं हेतु नया नहीं है। हमारे विचार से रज्जु की व्याख्या में अभयदेव एवं दत्त दोनों ही असफल रहे हैं एवं लक्ष्मीचन्द जैन ने सही दिशा की ओर संकेत किया है।

---

१. देखें सं०–६, पृ० २२-२३।
२. देखें सं०–५, पृ० ९२।
३. देखे सं०–११ पृ० २१५, २१६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रासी (सं० राशि) :—

इस शब्द की व्याख्या में अभयदेव एवं दत्त में गम्भीर मतभेद है। अभयदेव ने रासी का अर्थ अन्नों की ढेरी किया है[1] जबकि दत्त ने उनकी व्याख्या को पूर्णतः निरस्त करते हुए लिखा—

'The term rāsi appears in later Hindu works, except this last mentioned one (G. S. S.) and means measurement of mounds of grains. But I do not think that it has been used in the same sense in the cononical works for measurement of heaps of grain has never been given any prominence in later mathematical works and indeed it does not deserves any prominance.[2]

अर्थात् राशि शब्द गणितसार संग्रह के बाद के सभी ग्रन्थों में अन्नों की ढेरी के मापन के सन्दर्भ में आया है किन्तु मैं नहीं समझता कि यह प्राचीन सिद्धान्त-ग्रन्थों में भी इसी सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ होगा। अन्नों की ढेरी के मापन को बाद के ग्रन्थों में भी कोई महत्त्व नहीं दिया गया और न यह दिया जाने योग्य है।

उन्होंने आगे लिखा है कि राशि का अर्थ अन्नों की ढेरी संकुचित है एवं यह शब्द व्यापक रूप से ज्यामिति की ओर इंगित करता है। परवर्ती हिन्दू गणित ग्रन्थों में यह प्रकरण खात व्यवहार के अन्तर्गत आया है एवं राशि इसका एक छोटा भाग है।

प्रो० लक्ष्मीचन्द जैन ने एक स्थान पर रासी का अर्थ समुच्चय/अन्नों की ढेरी लिखा है।[3] हमारे विचार में सूरि एवं दत्त दोनों के अर्थ समीचीन नहीं हैं। समुच्चय अर्थ अनेक कारणों से ज्यादा उपयुक्त लगता है।

राशि शब्द की व्याख्या करते हुए जैन ने लिखा है कि इस पारिभाषिक शब्द पर गणित इतिहासज्ञों ने ध्यान नहीं दिया। राशि के अभिवृत्त—सेट (Set) जैसे ही हैं।[4] राशि के पर्यायवाची शब्द समूह, ओघ, पुंज, वृन्द, सम्पात, समुदाय, पिण्ड, अवशेष तथा सामान्य हैं। जैन कर्म एवं दर्शन सम्बन्धी साहित्य में वीरसेन (८२८ ई० लगभग) तक इसका उपयोग अत्यधिक होने लगा था। इसका उपयोग परवर्ती हिन्दू गणित ग्रन्थों में त्रैराशिक पंचराशि के रूप में भी हुआ है। अभिधान राजेन्द्र-कोष में राशि का प्रयोग समूह, ओघ, पुंज, सामान्य वस्तुओं का संग्रह, शालि, धान्यराशि, जीव, अजीव राशि, संख्यान राशि के रूप में बतलाया गया है। तिलोयपण्णत्ति (४७३-६०९) ई० में सृष्टि विज्ञान के सन्दर्भ में प्रयुक्त समुच्चयों हेतु राशि का अनेकशः उपयोग हुआ है।

किसी भी राशि के अवयव का उसी राशि से सदस्यता विषयक सम्बन्ध होता है। राशि की संरचना करने वाले ६ द्रव्य निम्न हैं :

१. जीव,	२. पुद्गल परमाणु,	३. धर्म
४. अधर्म	५. आकाश	६. कालाणु

---

१. धान्य बिगेरनो ढगलो तेना विषय वालुं संख्यान ते राशि पटिमां राशिव्यवहार नाम थी प्रसिद्ध छे।

२. देखें सं०—३, पृ० १२०।

३. देखें सं०—१, पृ० ३५।

४. देखें सं०—८, पृ० ४३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राशि रचने वाली इकाइयाँ समय, प्रदेश, अविभागी, प्रतिच्छेद, वर्ग एवं सम्प्रदायबद्ध हैं।

अपने लेख[1] में जैन ने जैनागमों एवं उसकी टीकाओं में पाये जाने वाले समुच्चयों के प्रकार, उदाहरण लिखने की विधि संकेतात्मक विधि, पद्धति, उन पर सम्पादित की जाने वाली विविध संक्रियाओं का विवरण दिया है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन जैनगणित में आधुनिक समुच्चय गणित के बीज विद्यमान थे किन्तु समुचित पारिभाषिक शब्दावली (Terminology) के अभाव में आधुनिक चिन्तक उसे हृदयंगम नहीं कर पा रहे हैं। प्राचीन शब्दावली एवं एतद्विषयक वर्तमान शब्दावली में अत्यधिक मतभेद है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि राशि शब्द सन्दर्भित गाथा में समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस तथ्य को अस्वीकार करने पर जैन गणित का एक अतिविशिष्ट एवं अद्वितीय क्षेत्र, कर्म सिद्धान्त का गणित, उपेक्षित रह जाता है। यह तथ्य भी हमारी विचारधारा को पुष्ट करता है।

५. कलासवन्ने (सं० कलासवर्ण)—भिन्नों से सम्बद्ध गणित को व्यक्त करने वाला यह शब्द निर्विवाद है क्योंकि वक्षाली हस्तलिपि से महावीराचार्य (८५० ई०) पर्यन्त यह शब्द मात्र इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जो संख्या पूर्ण न हो अंशों में हो उसे समान करना कला सवर्ण कहलाता है। इसे समच्छेदीकरण, सवर्णन और समच्छेद विधि भी कहते हैं। कला शब्द का प्रयोग तिलोयपण्णत्ति में भिन्न के अर्थ में हुआ है। जैसे एक बटे तीन को "एक्कला तिविहत्ता"[2] से व्यक्त किया गया है, अतः कला सवर्ण विषय के अन्तर्गत भिन्नों पर अष्ट परिकर्म, भिन्नात्मक श्रेणियों का संकलन प्रहसन एवं विविध जातियो का विवेचन आ जाता है।

६. जावंतावति (सं० यावत् तावत्)—इसे गुणाकार भी कहा जाता है। अभयदेवसूरि ने इसकी व्याख्या प्राकृतिक संख्याओं का गुणन या संकलन के रूप में की।[3] इसका निर्वचन व्यवहार रूप में करते हुए बताया गया कि यदि पहले जो संख्या सोची जाती है उसे गच्छ, इच्छानुसार गुणन करने वाली संख्या वाच्छ या इष्ट संख्या कहें तो पहले गच्छ संख्या को इष्ट संख्या से गुणा करते हैं, उसमें फिर इष्ट को मिलाते हैं, उस संख्या को पुनः गच्छ से गुणा करते हैं। तदनन्तर गुणनफल में इष्ट के दुगुने से भाग देने पर गच्छ का योग आ जाता है। अर्थात् यदि गच्छ = n, इष्ट = x तो प्राकृतिक संख्याओं का योग।

$$S = \frac{n(nx+x)}{2x}$$

इसी को विविच्छित, यादृच्छा, वाच्छा, यावत्-तावत् राशि कहते हैं। इस सम्पूर्ण क्रिया को यावत्-तावत् कहते हैं।

जैन ने लिखा है कि 'इस शब्द का प्रयोग उन सीमाओं को व्यक्त करता है जिन परिणामों को विस्तृत करना होता है; अथवा सरल समीकरण की रचना करनी होती है। इसका अर्थ जहाँ

---

१. देखें सं०–९, पृ० १।

२. तिलोयपण्णत्ति–२।११२।

३. 'जावं तावति वा गुणा कटौति वा एगटा' स्थानांग वृत्ति-पत्र ४७१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तक वहाँ तक भी होता है।'[१] .....हिन्दू बीजगणित में इस पारिभाषिक शब्द का बड़ा महत्व है. इस शब्द का उद्भव या तो यदृच्छा अर्थात् विवक्षित राशि से अथवा वाच्छा (अर्थात् इच्छित) राशि से हुआ है ? वक्षाली हस्तलिपि में इसका प्रयोग कूटस्थिति नियम को ध्वनित करने हेतु हुआ है। यह भी सुझाव प्राप्त हुआ है कि इसका सम्बन्ध अनिर्धृत (Indeterminate) अथवा अपरिभाषित अथवा अपरिभाषित इकाइयों की राशि से भी है। इस प्रकार जावं तावं से एक यह अर्थ भी ध्वनित होता प्रतीत होता है कि कोई भी संख्या को परिमित सीमा से लेकर उत्कृष्ट संख्येय तक ले जाते हैं तो जघन्य परीत असंख्येय के केवल एक कम होता है।[२]

आयंगर (१९६७) भी इस शब्द की व्याख्या करते समय जटिलता का अनुभव करते हैं वे लिखते हैं कि—

The Word Yāvat Tāvat is the word for the unknown quantity in ancient Hindu Mathematics and provides the algebric symbol Yā(या). It is difficult to account for this except by saying that it means the Science of Algebra in however redimentom form it may have existed. Besides the problem on indices in a general form. This subject may have included solutions of the problems of Arithmetics by assumi g unknown quantities simple Summations.[३]

अग्रवाल ने अपने शोध-प्रबंध में इस गाथा के ९ विषयों की विवेचना तो की है किन्तु यावत् तावत् को स्पर्श भी नहीं किया।[४] आखिर क्यों ?

दत्त महोदय ने इस गाथा के प्रथम ५ शब्दों की अभयदेवसूरि द्वारा दी गई व्याख्यायें कतिपय संशोधनों सहित स्वीकार कर ली किन्तु बाद के पाँच शब्दों जावतावति वग्गो, घणोवग्ग वग्गो एवं विकप्पोत की व्याख्याओं को पूर्णतः निरस्त करते हुए लिखा है कि—

In the identification of the remaining terms (last five). The commentator is not only of no help but is, on the other hand, positively misleading.[५]

दत्त महोदय ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए आगे लिखा है कि :—

I venture to presume that the term Yavat-Tavat is connected with the rule of False position which in the early stage of Science of Algebra in every country, was the only method of solving linear equations. It is interesting to find that this method was once given so much importance in Hindu Algebra That the section dealing with it was named after it.[६]

---

१. देखें सं० ८, पृ० ३७।
२. वहीं पृ० ४६।
३. देखें सं०–१३, पृ० २६।
४. देखें सं०–१०, पृ० ४८,४९।
५. देखें सं०–३, पृ० १२२।
६. देखें सं०–३, पृ० १२२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार आपने यावत् तावत् को सरल समीकरण से सम्बद्ध किया। जो उचित ही है। क्योंकि—

$$S = \frac{n(x+x)}{2x}$$

में से x कामन लेकर अंश एवं हर में से काट देने पर यह बनता है जो कि प्राकृतिक संख्याओं के योग का सूत्र है। $S = \frac{(n)\ (n+i)}{2}$ यह विषय तो परिकर्म के अन्तर्गत आ ही जाता है। अतः दत्त की व्याख्या विचार अधिक तर्कसंगत है।

७·८-९ वग्गो, घणो, वग्गवग्गो (वर्ग, घन एवं चतुर्थ घात):—

अभिधान राजेन्द्र में इन तीनों शब्दों की व्याख्या आगमिक उद्धरणों सहित दी गई है जहाँ इनके अर्थ क्रमशः वर्ग करना, घन करना एवं वर्ग का वर्ग करना है। अग्रवाल ने भी अपने शोध-प्रबंध में वर्ग के उल्लेखों को संकलित किया है।[1] उन सबसे स्वाभाविक रूप में यह प्रतीत होता है कि ये शब्द निश्चित रूप से वर्तमान में प्रचलित अर्थों (ज्यामितीय अर्थ नहीं) में ही प्रयुक्त हुये हैं। किन्तु यहाँ भी हम अपने पूर्व तर्क को उद्धृत करते हैं जब वर्ग एवं घन करना ये दोनों क्रियायें मूल परिकर्मों में आ जाती हैं तब उन्हें नवीन विषय के रूप में प्रतिष्ठित करने का क्या औचित्य ? पुनः अनुयोगद्वार सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र आदि प्राचीन ग्रन्थों में जब घातांकों के सिद्धान्त उपलब्ध हैं एवं उनमें १२वीं घात तक के प्रयोग निर्दिष्ट हैं[2]—तब चतुर्थ घात को ही क्यों विशेष महत्त्व दिया गया ? धवला में निहित वर्गित संवर्गित की प्रक्रिया में २५६ तक की घात आ जाती है।[3] चतुर्थ घात निकालने की क्रिया वर्ग करने की क्रिया की पुनरावृत्ति के समतुल्य है। जैनाचार्य वर्ग एवं घन करने की अपेक्षा अधिक जटिल क्रियाओं वर्गमूल एवं घनमूल निकालने में विशेष सिद्धहस्त थे। यदि वर्ग एवं घन को स्वतंत्र विषय की मान्यता दी गई तो उन्हें भी दी जानी चाहिये। लेकिन ऐसा नहीं किया गया। आखिर क्यों ?

संभवतः उपर्युक्त प्रश्नों एवं अन्य कारणों को ही दृष्टिगत करते हुए दत्त ने भी लिखा कि—

'I have no doubt in my mind that 'Varga' refers to quadratic equation 'Ghan' refers to cubic equation and 'Vargavarga' to biquadratic equation'.

यद्यपि आज के उपलब्ध आगमों में हमें घन समीकरण एवं चतुर्थघात समीकरण के स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलते किन्तु वर्तमान में अनुपलब्ध ग्रन्थों में उनका पाया जाना अस्वाभाविक नहीं है। आगमिक ज्ञान के आधार पर रचित गणितसार संग्रह में तो ऐसे उल्लेख प्रचुर हैं अतः दत्त का कथन असत्य नहीं कहा जा सकता है। आयंगर[4] एवं जैन ने भी उनका समर्थन किया है।

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र–१४२।
२. धवला, पुस्तक–३।
३. देखें सं० –३, पृ० १७२।
४. देखें सं० १३, पृ० २८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. विकप्पोत या कप्पो (विकल्प या कल्प)—पाठ (१) को स्वीकार करते हुए अभयदेव-सूरि ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि इससे लकड़ी की चिराई एवं पत्थरों की चिनाई का ज्ञान होता है।[1] पाटीगणित में इसे ककचिका व्यवहार कहते हैं। अभयदेव ने इसको उदाहरण से भी समझाया है।

स्थानांगसूत्र के सभी उपलब्ध संस्करणों में हमें यही पाठ एवं अर्थ मिलता है किन्तु दत्त, कापड़िया, उपाध्याय, अग्रवाल एवं जैन आदि सभी ने इसे (२) रूप में उद्धृत किया है एवं इसका अर्थ विकल्प (गणित) किया है। विकल्प एवं भंग जैन साहित्य में क्रमचय एवं संचय के लिये आये हैं। जैन ग्रन्थों में इस विषय को विशुद्धता एवं विशिष्टता के साथ प्रतिपादित किया गया है।

ककचिका व्यवहार, व्यवहारों का ही एक भेद होने तथा विकल्प (अथवा भंग) गणित के विषय का दार्शनिक विषयों की व्याख्या में प्रचुरता एवं अत्यन्त स्वाभाविक रूप से प्रयोग, यह मानने को विवश करता है कि विकल्पगणित जैनाचार्यों में ही नहीं अपितु प्रबुद्ध श्रावकों के जीवन में भी रच-पच गया था, तभी तो विषय के उलझते ही वे विकल्पगणित के माध्यम से उसे समझाने लगते थे। ऐसी स्थिति में विकल्पगणित को गणित विषयों की सूची में भी समाहित न करना समीचीन नहीं कहा जा सकता। उल्लेखनीय है कि विकल्प गणित कोई सरल विषय नहीं था तभी तो अन्य समकालीन लोगों ने इसका इतना उपयोग नहीं किया। जैन ही इसमें लाघव को प्राप्त थे। अतः विकप्पोत का अर्थ विकल्प (गणित) ही है।

विषय के समापन से पूर्व विषय से सम्बद्ध कतिपय अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख भी आवश्यक है। आगम ग्रन्थों में चर्चित गणितीय विषयों की जानकारी देने वाली एक अन्य गाथा शीलांक (९वीं श० ई०) ने सूत्रकृतांग की टीका में पुण्डरीक शब्द के निक्षेप के अवसर पर उद्धृत की है। गाथा निम्नवत् है—

परिकम्म रज्जु रासी ववहारे तह कला सवण्णे (सवन्ने) य ॥ ५ ॥
(पुद्गल) जावं तावं घणे य घणे वग्ग वग्गवग्गे य।[2]

टीका के सम्पादक महोदय ने उपर्युक्त गाथा की संस्कृत छाया निम्न प्रकार की है।

परिकर्म्मं रज्जु, राशि व्यवहारस्तया कलासवर्णश्च।
पुद्गलाः यावत्तावत् भवन्ति घनं घनमूलं वर्गः वर्गमूलं ॥[3]—(६)

(५) इससे स्पष्ट है कि इस गाथा में भी विषयों की संख्या १० ही है किन्तु उसमें स्थानांग में आई गाथा के विकप्पोत के स्थान पर पुग्गल शब्द आया है। अर्थात् यहाँ पुद्गल को गणित अध्ययन का विषय माना गया है, विकल्प को नहीं। शेष नौ प्रकार स्थानांग के समान ही हैं।[4]

---

१. कल्पछेद गणित करवतण्डे काष्ठानुं छेदन तेना विषयवालु जे गणित से पाटियां क्राकच व्यवहार कहेवाय छे (स्थानांगवृत्ति)।
२. सूत्रकृतांग-श्रुतस्कन्ध-२, अध्याय-१, सूत्र-१५४।
३, देखें सं०-३ पृ० १२०।
४. ठाणं, पृ० ९९४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोस ने अपनी पुस्तक[1] में उपर्युक्त गाथा (६) को उद्धृत किया है किन्तु उसके आधार पर नीचे जो विषयों की सूची बनायी है उसमें पुद्गल को हटाकर विकल्प गणित को सम्मिलित कर दिया है अथवा यह कहा जाये कि स्थानांग वाली गाथा के विषयों को दे दिया। इसका क्या कारण है ? संभवतः त्रुटिवश ऐसा हुआ है।

संस्कृत छाया को देखने से स्पष्ट है कि गणित अध्ययन के विषय ११ हैं, अर्थात् परिकर्म, व्यवहार, रज्जु, राशि, कलासवर्ण, पुद्गल, यावत् तावत्, घन, घनमूल, वर्ग, और वर्गमूल।

पुनः द्रष्टव्य है कि मूल गाथा (५) में कहीं कुछ ऐसा नहीं है जो मूल शब्द को ध्वनित करता हो। दत्त ने भी लिखा है—

There is nothing in the either form which could be informed a reference to roots (mūla). Above all by that interpretation, he has made the number of topics for discussion to be eleven against the express injuction of the Canonical works that they are all together ten. So we shall reject the rendering of the verse (Sanskrit version).[2]

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या पुद्गल को गणित अध्ययन का विषय माना जाये ? इस संदर्भ में दत्त महोदय ने तो स्पष्ट लिखा है कि—

Pudgala as a topic for discussion in mathematics is meaningless.[3]

अर्थात् पुद्गल को गणित अध्ययन का विषय स्वीकार करना निरर्थक है।

किन्तु विचारणीय यह है कि यह निष्कर्ष आप के द्वारा तब दिया गया था जब कर्म सिद्धान्त का गणित प्रकाश में नहीं आया था। उस समय तक Relativity के संदर्भ में जैनाचार्यों के प्रयास भी प्रकाशित नहीं हुये थे। आज परिवर्तित स्थिति में यह निष्कर्ष इतनी सुगमता से गले नहीं उतरता। क्योंकि असंख्यात विषयक गणित, राशि गणित (Set theory) आदि का मूल तो पुद्गल ही है। मापन की पद्धतियाँ तो यहीं से प्रारम्भ होती हैं। एक तथ्य यह भी है कि शीलांक ने भी तो इसे किसी प्राचीन ग्रन्थ से ही उद्धृत किया होगा। लेकिन समस्या यह है कि पुद्गल को गणित का विषय स्वीकार करने पर विकल्प छूट जाता है। जबकि विकल्प तो अत्यधिक एवं निर्विकल्प रूप से जैन ग्रन्थों में आता है। यहाँ हमें बृहत्कल्प भाष्य की एक पंक्ति कुछ मदद करती है।

"भंग गणिताइ गमिकं"[4]

मलयगिरि ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि भंग (विकल्प) एवं गणित अलग-अलग हैं।[5]

संक्षेप में यह विषय विचारणीय है एवं अभी यह निर्णय करना उपयुक्त नहीं है कि पुद्गल को गणितीय अध्ययन का विषय स्वीकार किया जाये अथवा नहीं।

स्थानांगसूत्र के ही चतुर्थ अध्याय में एतद्विषयक एक अन्य गाथा प्राप्त होती है। गाथा निम्नवत् है—

---

१. देखें सं०-२, पृ० १५८।
२. देखें सं०-३, पृ० १७०।
३. वही, पृ० १२०।
४. बृहत्कल्प भाष्य, १४३।
५. देखें सं० १०, पृ० XIII।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चउविधि संखाणे पण्णत्ते तं जहा।
परिकम्म ववहारे रज्जु रासी ॥[1]—७

इस गाथा पर अद्यावधि किसी ने ध्यान नहीं दिया है। एक ही ग्रन्थ में दो प्रकार के उल्लेख क्यों हैं? संख्यान के चार प्रकार पिछले पृष्ठ पर उद्धृत दत्त के निष्कर्ष के प्रतिकूल हैं। क्या यहाँ संख्यान से कोई भिन्न अर्थ ध्वनित होता है? अथवा क्या यहाँ पर इंगित संख्यान के प्रकार कोई विशेष गुण रखते हैं? इस विषय पर अभी और व्यापक विचार विमर्श अपेक्षित है।

1. Agrawal, N. B. Lal — 'गणित एवं ज्योतिष के विकास में जैनाचार्यों का योगदान' आगरा वि० वि० में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध १९७२।
2. Bose, D M. & Sen, S N — 'A Concise History of Sciences in India' I. N. S. A.—New Delhi. 1971
3. Dutt, B. B — 'The Jaina School of Mathematics' B. C. M. S. (Calcatta). 21 pp. 115-143, 1929
4. Dutt, B. B & Singh A. N. — 'हिन्दू गणित शास्त्र का इतिहास' (हिन्दी संस्करण) अनु० डा० कृपाशंकर शुक्ल—उ० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, १९६७।
5. Jain, G. R. — 'Cosmology Old & New' (Hindi Ed) Bhārtiya Jñanpitha, New Delhi 1974.
6. Jain, L. C. — 'तिलोयपण्णत्ति का गणित' अन्तर्गत जम्बुद्दीवपण्णत्तिरागते, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर १९५०।
7. Jain, L. C. — 'Set Theory in Jaina School of Mathematics I. J. H. S (Calcutta), 8—1, pp. 1-27. 1973
8. Jain, L. C. — 'आगमों में निहित गणितीय सामग्री एवं उसका मूल्यांकन' 'तुलसी पूज्य' लाडनूं पृ० ३५–७४, १९८०
9. Jain, L. C. — Exact Sciences from Jaina Sciences. Vol. I Rajasthan Prakrita Bharati, Jaipur 1983.
10. Kapadia, H. R. — Introduction of Gorilo Tilak' Gaekwad Oriental Series, Baroda 1937.
11. Upadhyaya, B L — 'प्राचीन भारतीय गणित' विज्ञान भारती, दिल्ली १९७१
12. Shah, A L — 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास–भाग ५ पा० वि० शोध-संस्थान, वाराणसी १९६९।
13. Srinivas, C P Iengar — The History of Ancient Indian Mathematics National World Press Calcutta 1967.
14. — — अंग सुत्ताणि—भाग १, जैन विश्व भारती, लाडनूं १९७५
15. — — ठाणं (स्थानांग सूत्त) टीक, जैन विश्व भारती, लाडनूं १९८०
16. — — तिलोपपण्णत्ति—सटीक जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर १९४४
17. — — 'गणितसार संग्रह(हिन्दी संस्करण) जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर १९६२

१. ठाणं ४, सूत्र, ५०५, पृ० ४३८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org